THE TIMES OF INDIA

Date:20-02-20

Tread with care

Linking electoral roll with Aadhaar can empower migrant voters, but must not be made compulsory

TOI Editorials

Voting is a vital aspect of the exercise of citizenship rights, and authorities must work towards enfranchising eligible voters to the maximum extent. The government is considering amending the Aadhaar legislation to legally empower the Election Commission to link the electoral roll with the unique identification number. The purpose is twofold, to find ways to offer remote voting rights to migrant workers and to clean up the database of voters. Both these goals are welcome. However, the process under consideration deserves closer scrutiny.

India has an estimated 400 million migrants, most of whom are seasonal and temporary migrants. A significant number of such migrants are unable to vote, which amounts to disenfranchisement on a large scale due to economic compulsions of migrants. To correct this, the use of biometrics is almost inevitable and the Aadhaar database will have to be used. However, linking to Aadhaar must not be made mandatory for all voters, including non-migrant ones.

Aadhaar is a unique 12 digit identifier which encapsulates both biometric and demographic data such as names. The effort to clean the electoral database will need only the demographic data for corroboration. The relevant question now is how reliable is the demographic data with Aadhaar in relation to the voter ID data? The most recent annual survey by IDinsight on state of Aadhaar said that demographic error rate in Aadhaar is 8.8% as against 5.7% for voter ID.

Separately, the Supreme Court in 2017 held that privacy is a fundamental right and Aadhaar could be mandated only for a select set of activities. De-duplication of electoral rolls is not one of them. Aadhaar linkage for all voters would introduce unnecessary complications and could also trigger disenfranchisement on a mass scale. In general, robust data structures that protect privacy and are resilient against cyber attacks do not depend on a single identifier, but rather built in redundancy and choice. Therefore, Aadhaar as an identifier should be an option but not a necessary condition. The government must tread with care and resist its penchant for linking Aadhaar to every other kind of identity, which only enmeshes citizens in more bureaucracy and ends up with many errors of exclusion. On de-duplication EC has always tried to use other methods, including specialised software, to both update and clean up the database. These must be persisted with and improved.

दैनिक भास्कर

Date:20-02-20

सिर्फ इश्तिहार से तो नहीं रुकेगा राजनीति का अपराधीकरण

संपादकीय

उत्तर बिहार के एक जिले में एक अपराधी किस्म के नेता के बारे में मतदाताओं की राय कुछ इस तरह है, 'भले ही वह खतरनाक गुंडा है पर सिर्फ अमीरों को लूटता है, गरीबों की शादी में अक्सर मदद करता है'। यह तथाकथित रोबिनहुड अपराधी प्रजातंत्र के सबसे बड़े मंदिर लोकसभा में जनता के ऐसे आशीर्वाद की वजह से चार बार पहुंच चुका है। ऐसे में सुप्रीम कोर्ट का भारतीय राजनीति में अपराधीकरण के खिलाफ यह फैसला कि राजनीतिक दल किसी प्रत्याशी को टिकट देने के कारण और उस पर मुकदमे का पूरा ब्योरा इश्तिहार के जरिये जनता को बताएं, शायद ही कारगर हो। पिछले 15 सालों में अपराधियों के चुनाव में जीतने का चांस किसी शरीफ प्रत्याशी की तुलना में कहीं अधिक बढ़ा है और यही कारण है कि अपराधियों को टिकट देने में साढ़े तीन गुना (2004 में 486 और 2019 में 1506) वृद्धि हुई। इस दौरान संसद पहुंचने वाले अपराधियों की संख्या 125 से बढ़कर 236 हो गई। बिहार में सजा की दर मात्र नौ प्रतिशत है, यानी सौ में से 91 छूट जाते हैं। केरल में इसके ठीक उलट सौ में से 91 को सजा होती है। ऐसे में किसी प्रत्याशी पर कितने मुकदमे हैं, यह जानने से कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि बिहार या उत्तर भारत का मतदाता यह जानता है कि जो अपराधमुक्त है वह भी दूध का धुला नहीं है और जिसके खाते में मुकदमा दर्ज है, उसके छूटने की संभावना भी 91 फीसदी है। अदालत ने यह भी कहा है कि राजनीतिक दल इश्तिहार में यह भी लिखें कि किस कारण से अपराधी चरित्र के प्रत्याशी को अन्य गैर आपराधिक चरित्र वाले के मुकाबले बेहतर मानकर टिकट दिया गया। जाहिर है, पार्टियां एक ही जवाब देंगी कि गलत फंसाया गया है और अभी दोष सिद्ध नहीं हुआ है। दरअसल, स्वस्थ जनमत बनाने की पहली शर्त है, लोगों का तार्किक और वैज्ञानिक सोच का होना और दूसरी शर्त है सभी सूचनाएं उपलब्ध होना। अगर एक व्यक्ति या गांव सिर्फ इसलिए किसी को वोट देता है कि वह अपनी जाति का है या ऐसा गुंडा है जो जाति के लोगों को नहीं सताता तो शासन का पिरामिड कैसा होगा, समझा जा सकता है। जरूरत सोच बदलने की है।

दैनिक जागरण

Date:20-02-20

भारत को विश्वस्तरीय क्षमताएं हासिल करनी होंगी

विवेक कौल , (लेखक अर्थशास्त्री हैं)

दुनिया की दिग्गज कंपनी एपल और उसके उत्पाद किसी परिचय के मोहताज नहीं। एपल आइफोन सबसे प्रीमियम स्मार्टफोन माना जाता है। चूंकि एपल अमेरिकी कंपनी है तो अधिकांश लोग आइफोन को भी अमेरिकी उत्पाद ही मानते हैं जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं। इस सिलसिले में फिलिप कॉगन अपनी नई किताब 'मोर: द 10,000 ईयर राइज ऑफ

द वर्ल्ड इकोनॉमी में इस पहलू से पर्दा उठाते हैं। इस किताब के अनुसार आइफोन का डिस्प्ले जापान और दक्षिण कोरिया में, सेंसर्स ताइवान में और कई अन्य कलपुर्जे जर्मनी, फ्रांस, इटली और नीदरलैंड में बनते हैं। इन पुर्जों को बनाने में कच्चा माल अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका से आता है। इन सभी को इक्कठा कर आइफोन की असेंबलिंग चीन में होती है। इतना कुछ होने के बावजूद आइफोन को व्यापक रूप से अमेरिकी उत्पाद ही माना जाता है। आप शायद इस बात पर अचंभित हों कि हम एकाएक आइफोन की बात यों कर रहे हैं? ऐसा इसलिए, योंकि चीन की चमत्कारिक सफलता की कहानी आइफोन जैसे उत्पादों की असेंबलिंग से ही जुड़ी है। चलिए इसे समझने की कोशिश करते हैं। हालिया प्रकाशित आर्थिक समीक्षा में एपल आइपॉड की चर्चा है। आइफोन के माफिक आइपॉड के पुर्जे भी दुनिया के अलग-अलग कोनों से चीन पहुंचते थे। वर्ष 2008 में एक आइपॉड की फैट्री गेट कीमत 144 डॉलर थी, लेकिन इसमें से केवल चार डॉलर ही चीनी वैल्यू एडिशन में शामिल होते। यह इस कीमत का महज तीन प्रतिशत हिस्सा था। हालांकि इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि आइपॉड असेंबलिंग से चीन को कोई फायदा नहीं हो रहा था। अगर कुल आंकड़ों को देखें तो चीन में तकरीबन 5.483 करोड़ आइपॉड असेंबल हुए जिससे उसे 21.9 करोड़ डॉलर का वैल्यू एडिशन मिला।

कमोबेश यही स्थिति आइफोन के मामले में है। एक आइफोन असेंबलिंग में चीन को 8.46 डॉलर ही मिलते हैं जो कुल लागत का केवल 3.6 प्रतिशत है। यह देखने में भले ही कम लगे, लेकिन 2018 में दुनिया भर में बिके कुल 21.8 करोड़ आइफोन की बिक्री से चीन को मिले फायदे का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। बहरहाल आइफोन या आइपॉड तो महज दो मिसाल हैं। वास्तव में चीन ऐसे हजारों उत्पादों की असेंबलिंग का गढ़ बना हुआ है। इनके निर्यात से जहां चीन ने भारी कमाई की तो अपने लाखों-करोड़ों लोगों के लिए रोजगार के अवसर भी सृजित किए। आखिर हम इन पहलुओं की चर्चा यों कर रहे हैं? असल में इस सवाल का जवाब वर्ष 2013 की वर्ल्ड ट्रेड रिपोर्ट में छिपा है।

इस रिपोर्ट के अनुसार दो-तिहाई से अधिक विश्व व्यापार अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उसके आपूर्तिकर्ताओं के बीच होता है। इसे देखते हुए यदि भारत भी इस मोर्चे पर बढ़त बनाना चाहता है तो उसे इस वैश्विक आपूर्ति शृंखला का हिस्सा बनना ही पड़ेगा। अच्छी बात यही है कि अब सरकार भी इसकी जरूरत समझकर इस दिशा में कदम बढ़ाने के संकेत दे रही है। वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण ने बजट भाषण में कहा भी कि 'भारत को नेटवर्क वाले उत्पादों के विनिर्माण की आवश्यकता है। इससे भारत ग्लोबल वैल्यू चेन का हिस्सा बन जाएगा। परिणाम स्वरूप अधिक निवेश होगा और फलत: रोजगार के अवसर भी अधिक सृजित होंगे। जहां तक भारत की बात है तो कारों का निर्यात उसके लिए एक बड़ी कामयाबी रही है।

देश में तैयार की गई कारों का बड़े पैमाने पर निर्यात किया गया और धीरे-धीरे देश वैल्यू चेन के मोर्चे पर आगे बढ़ता गया। यही बात आर्थिक समीक्षा में भी लिखी गई है। इसके अनुसार वर्ष 2001 में जहां भारत से 22.5 करोड़ डॉलर मूल्य की जो कारें निर्यात की गई थीं, वह आंकड़ा वर्ष 2017 में बढ़कर 880 करोड़ डॉलर हो गया। इसी अवधि में कार के कलपुर्जों का निर्यात भी 40.8 करोढ़ डॉलर से बढ़कर 550 करोड़ डॉलर हो गया। इससे एक बड़ी सीख यह मिलती है कि घरेलू कंपनियां पहले निन प्रौद्योगिकी से शुरुआत करके वैल्यू चेन को आगे बढ़ाती हैं। इसमें कारों की असेंबलिंग से आरंभ करके धीरे-धीरे अन्य घटकों के निर्माण की ओर बढ़ती हैं। सरकार अब यही चाहती है कि ऐसे अन्य उत्पादों का निर्यात बढ़ाया जाए। इसी सिलसिले में सीतारमण ने बजट में मोबाइल फोन, इलेट्रॉनिक उपकरण और सेमीकंडटर निर्माण को प्रोत्साहन देने वाली एक योजना का एलान किया। हालांकि ऐसी कोई योजना दस-पंद्रह साल पहले ही आ जानी चाहिए थी। इस बीच सबसे बड़ी परेशानी यही है कि जहां भारत अपना निर्यात बढ़ाना चाहता है वहीं संरक्षणवादी नीतियां भी अपना रहा है। पिछली सदी के आखिरी दशक से ही सरकारें सीमा शुल्क घटाती आ रही थीं, लेकिन अब इस नीति में

बदलाव आ रहा है। इसी का नतीजा है कि देश दोबारा आयात प्रतिस्थापन की ओर अग्रसर है। बजट में सरकार ने 37 वस्तुओं पर सीमा शुल्क बढ़ाया। इसके अतिरिक्त 10 अन्य वस्तुओं पर सीमा शुल्क लगाया भी गया है। वर्ष 1991 से पहले भारत आयात प्रतिस्थापन की नीति पर चलता रहा। तब दक्षिण पूर्व एशियाई देशों की भी यही रणनीति थी, लेकिन उन्होंने यह रुख बदलते हुए निर्यात पर ध्यान केंद्रित किया जिसका उन्हें लाभ भी मिला। वहीं भारत अपनी इस नीति का लगातार खामियाजा भुगतता रहा और 1991 से पहले की आर्थिक विकास दर इसका जीता-जागता सुबूत थी जो अमूमन चार प्रतिशत से कम रहती थी। जब कंपनियां वैश्विक बाजार के लिए उत्पादन करती हैं तो उनका मुकाबला सर्वश्रेष्ठ कंपनियों से होता है। इसमें जीतकर ही वे वैश्विक बाजारों में सफल हो पाती हैं। यदि भारतीय कंपनियों को वैश्विक वैल्यू चेन का हिस्सा बनना है तो उन्हें विश्वस्तरीय प्रतिस्पर्धा क्षमताएं हासिल करनी होंगी। ऐसे में सरकार की सीमा शुल्क बढ़ाने वाली नीति विरोधाभासी होगी, क्योकि इससे कंपनियां घरेलू बाजार के लिए उत्पादन पर जोर देंगी। तब वे विदेशी कंपनियों के साथ कैसे मुकाबला कर पाएंगी। वैश्विक वैल्यू चेन का हिस्सा बनने की उनकी कवायद भी अधूरी रह जाएगी। ऐसे में या तो सरकार अधिक संरक्षणवादी बन सकती है या फिर निर्यात को बढ़ावा दे सकती है। यह दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। यह समझना बहुत जरूरी है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:20-02-20

अपर्याप्त विधान

संपादकीय

केंद्रीय मंत्रिमंडल ने कीटनाशक प्रबंधन विधेयक, 2020 को संसद में पेश करने की मंजूरी दे दी है, लेकिन ऐसा लगता नहीं कि यह कृषि-रसायन क्षेत्र के अंशधारकों की अपेक्षाओं पर खरा उतरेगा। यह विधेयक 12 वर्ष की लंबी अवधि में तैयार किया गया है और इस प्रक्रिया में संसद की स्थायी समिति तथा अन्य स्रोतों से मिली जानकारियों का भी इस्तेमाल किया गया है। किसानों के हितों की रक्षा करने के प्रयास में विधेयक उद्योग जगत के खिलाफ झुकाव वाला बन गया है। जाली, खराब गुणवत्ता वाले या निष्प्रभावी कीटनाशकों के इस्तेमाल के कारण किसानों को होने वाले नुकसान की तेज क्षतिपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए विधेयक में 50,000 करोड़ रुपये का एक विशेष कोष तैयार करने की बात कही गई है। सुझाव है कि इस फंड के लिए राशि डिफॉल्ट करने वाली कीटनाशक कंपनियों और केंद्र तथा राज्य सरकारों से सहयोग से जुटाई जाएगी। प्रतिबंधित या खराब गुणवत्ता वाले कीटनाशकों की आपूर्ति पर जुर्माने की राशि को बढ़ाकर 50 लाख रुपये करने तथा तीन से पांच वर्ष के कारावास का प्रस्ताव है। फिलहाल जुर्माने की राशि केवल 2,000 रुपये और तीन वर्ष की सजा का प्रावधान है। उत्पादन, व्यापार और कीटनाशकों के प्रयोग को केंद्रीय कीटनाशक बोर्ड की सहायता से विनियमित करने की बात कही गई है। इस बोर्ड में केंद्र, राज्य, किसान तथा अन्य अंशधारक होंगे। विधेयक की अन्य उल्लेखनीय बातों में पर्यावरण तथा स्वास्थ्य के अनुकूल ऑर्गेनिक कीटनाशकों की बात शामिल है। कीटनाशक क्षेत्र में लंबे समय से एक प्रभावी नियामकीय व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जा रही थी क्योंकि सन 1968 का पुराना कीटनाशक अधिनियम अक्षम साबित हुआ।

कीटनाशक उद्योग का तेजी से विस्तार हुआ जिसके चलते अनेक फर्जी, खराब गुणवत्ता वाले और खतरनाक रसायन चलन में आ गए। हालांकि केवल 300 के करीब कीटनाशक ही देश में उत्पादन एवं इस्तेमाल के लिए पंजीकृत हैं लेकिन प्रचलित रसायनों की वास्तविक तादाद बहुत ज्यादा है। ऐसा इसलिए क्योंकि बिना पंजीयन के भी इनका उत्पादन और बिक्री की जा रही है। कई खतरनाक कीटनाशक, जिन्हें विदेशों में प्रतिबंधित कर दिया गया है, उनका भारत में इस्तेमाल जारी है। इसके कारण हर वर्ष सैकड़ों की तादाद में खेतों में काम करने वाले लोगों की जान चली जाती है।

आशा है कि नया कानून ऐसे घातक रसायनों के निर्माण और बिक्री पर अंकुश लगाएगा और मानकों को कड़ा करेगा। बहरहाल, प्रस्तावित कानून के कारण कीटनाशक उद्योग के कुछ हलकों के मन में आशंकाएं भी उत्पन्न हुई हैं। शोध और विकास से जुड़ी 16 फसल विज्ञान कंपनियों के संगठन द क्रॉपलाइफ इंडिया ने पहले ही यह मांग की है कि विधेयक को संसद की प्रवर समिति के पास भेजा जाए और इस क्षेत्र के विभिन्न अंशधारकों के साथ नए सिरे से मशविरा किया जाए। उसने दंड प्रक्रिया संहिता 1973 के लागू होने की व्यवस्था समाप्त करके कृषि कच्चे माल के निर्माण का अपराधीकरण समाप्त करने की भी वकालत की है। दलील यह है कि उक्त प्रावधान से निवेश को लेकर नकारात्मक माहौल बनता है।

विधेयक को मंजूरी के लिए भेजने से पहले सार्वजनिक मशविरा अपनाकर कई कमियों से बचा जा सकता था। विधेयक के बारे में जो सीमित जानकारी सामने आई उसके मुताबिक इसमें कृषि उपज में कीटनाशकों की मौजूदगी की जांच पर ज्यादा जोर देने की बात शामिल होनी है क्योंकि वह मानव जीवन, पालतू पशुओं और वन्य जीवों के लिए बड़ा खतरा उत्पन्न करता है। कीटनाशकों का बेतहाशा इस्तेमाल व्यापक पैमाने पर वायु, मृदा और जल प्रदूषण की वजह बन रहा है। ऐसे में प्रस्तावित कानून में केवल कम नुकसानदेह कीटनाशकों की बात नहीं होनी चाहिए बल्कि किसानों को इनके सावधानीपूर्ण प्रयोग की बात समझाने की बात शामिल होनी चाहिए ताकि खेतों में इनके अवशेष न बचें।

Date:20-02-20

'विवाद से विश्वास' करदाताओं के लिए हो सकती है निराशाजनक

ए के भट्टाचार्य

प्रत्यक्ष कर संबंधी विवादों से जुड़ी मुकदमेबाजी में कमी लाने के लिए नरेंद्र मोदी सरकार की नई पहल ने करदाताओं के बीच उम्मीद जगाई है। तमाम अदालतों और अपील अधिकरणों में ऐसे करीब 4.83 लाख मुकदमे लंबित चल रहे हैं। लेकिन 'विवाद से विश्वास' नाम की यह योजना ऐसे तमाम करदाताओं के बीच बड़ी निराशा का सबब बन सकती है। अगर कोई करदाता अपना मुकदमा हार चुका है और उसने अपील की हुई है तो इस योजना के तहत वह विवादित राशि का 100 फीसदी (जुर्माना एवं ब्याज छोड़कर) चुका कर मामले का निपटारा कर सकता है। इस तरह यह योजना कई करदाताओं के लिए विवाद को खत्म कर कर विभाग से मुक्ति का रास्ता दिखा सकती है। इसका मतलब है कि विवाद से विश्वास की तरफ बढ़ा जा सकता है।

लेकिन अगर कोई करदाता मुकदमा जीत चुका है और उसके खिलाफ कर विभाग ने अपील की हुई है तो इस योजना के तहत वह विवादित रकम का 50 फीसदी (जुर्माने एवं ब्याज के बगैर) भुगतान कर विवाद का निपटान करा सकता है। इस तरह की स्थिति में कई समस्याएं पैदा हो सकती हैं। आखिर निचली अदालत में मुकदमा जीत चुके करदाता को विवादित रकम का आधा हिस्सा चुकाने को क्यों तैयार होना चाहिए? कर विभाग इस बात के लिए खासा चर्चित है कि किसी भी तरह के कर विवाद में वह हार मिलने पर अपील में चला जाता है। लिहाजा मुकदमे का सामना कर रहे व्यक्ति को यह देखना होगा कि अपील पर लंबे समय तक खिंचने वाली अदालती कार्यवाही का सामना करने से कहीं बेहतर आधी रकम चुकाना है या नहीं। यह बात हालात को अधिक जटिल बना देती है कि कर विभाग के जिम्मे अब चालू वित्त वर्ष के बाकी बचे हफ्तों में बड़ा राजस्व संग्रह लक्ष्य को पूरा करना है। डर है कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए कर विभाग कहीं करदाताओं पर यह अवांछित दबाव न डालने लगे कि वे इस योजना के तहत लंबित मामलों का निपटारा करें। इस तरह सरकार को वांछित अतिरिक्त राजस्व मिल जाएगा और विवाद से विश्वास योजना भी सफल हो जाएगी।

लेकिन इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि यह कर विवादों की बड़ी समस्या को खत्म कर देगा जिससे बकाया कर संग्रह बढ़ेगा। पिछले 10 वर्षों में बकाये कर की समस्या बिगड़ती चली गई है। वित्त वर्ष 2009-10 में विवादित कर मामलों एवं गैर-विवादित कर मामलों को मिलाकर प्रत्यक्ष कर बकाये का कुल मूल्य 1.1 लाख करोड़ रुपये ही था जो केंद्र के 6.24 लाख करोड़ रुपये के सकल कर संकलन का महज 17.5 फीसदी है। वर्ष 2018-19 में सकल कर संग्रह में ऐसे बकाया कर की हिस्सेदारी तीव्र वृद्धि के साथ 45 फीसदी बढ़ गई। कुल 20.8 लाख करोड़ रुपये के सकल कर संग्रह में प्रत्यक्ष कर बकाया करीब 9.4 लाख करोड़ रुपये रहा।

कर बकाया का बढ़ता बोझ

यह एक ऐसी समस्या है जिसके लिए मनमोहन सिंह और नरेंद्र मोदी दोनों की सरकारों को जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। मनमोहन सरकार ने प्रत्यक्ष कर के मद में बकाये को अपने शासन के अंतिम वर्ष में बढ़कर 42 फीसदी तक बढने दिया जबकि वर्ष 2004-05 में यह सकल कर संग्रह का 17.5 फीसदी ही था। मोदी सरकार के आने के बाद कर बकाये की बढ़त पर लगाम लगी लेकिन इसने उसे नीचे लाने की खास कोशिश नहीं की। यह 2015-16 में 45 फीसदी से भी अधिक बढ़ गया। निश्चित रूप से, कुछ कदमों से बकाया कर में 2016-17 के दौरान 43 फीसदी और 2017-18 में 38 फीसदी की तीव्र गिरावट आई थी लेकिन 2018-19 में यह एक बार फिर से 45 फीसदी से अधिक बढ़ गया।

हमें ध्यान रखना होगा कि इस बकाये कर का बड़ा हिस्सा प्रत्यक्ष कर विवादों की वजह से है। सकल कर संग्रह में गैर-विवादित प्रत्यक्ष कर मामलों के चलते बकाये कर का हिस्सा पिछले 10 वर्षों में कमोबेश अपरिवर्तित रहा है। वर्ष 2009-10 में यह 6.88 फीसदी था जबकि 2018-19 में यह 6.66 फीसदी रहा। यह समस्या खड़ी होने की मुख्य वजह यह रही है कि सकल कर संग्रह में विवादित कर मामलों का हिस्सा इस दौरान 11 फीसदी से बढ़कर 39 फीसदी बढ़ गया। हालांकि कर विभाग को एक ऐसी व्यवस्था कायम करने पर ध्यान देना चाहिए जो विवाद न खड़े करती हो और मौजूदा विवादों को कई वर्षों तक लटकाने की इजाजत न दे। 'विवाद से विश्वास' योजना से सरकार को एकबारगी कर राजस्व का पुलिंदा मिल सकता है। लेकिन महज एक बार होने वाले विनिवेश प्राप्तियों की तरह यह लाभ भी तब तक कायम नहीं रहेगा जब तक कराधान प्रणाली में टिकाऊ सुधार नहीं लागू किए जाते हैं और विवादों का जल्द समाधान नहीं तलाशा जाता है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:19-02-20

क्या समाज तैयार है ओल्ड एज होम के लिए

अंबरीश कुमार

एक वरिष्ठ पत्रकार के बारे में कुछ दिनों पहले पता किया, तो बताया गया कि वह एक ओल्ड एज होम यानी वृद्ध आश्रम में हैं। वजह उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं है। करीब अस्सी साल के एक वकील साहब का अपने ही घर वालों से विवाद हो गया। उनके घर वालों ने शहर के घर से उन्हें बेदखल कर दिया। वह अब एक ओल्ड एज होम में रहते हैं। उनसे बात हुई, तो बोले कि वह किराए के घर में भी रह सकते थे, लेकिन कौन खाना बनाता, कौन उनकी दवा समय पर देता, इसलिए वह ओल्ड एज होम चले गए। संयुक्त परिवार अब रहे नहीं, एक बेटे या बेटी वाले लोग ज्यादा हैं। बेटा या बेटी विदेश चले गए, तो माता-पिता की देखभाल कौन करे? बड़े महानगरों में छोटे-छोटे फ्लैट में माता-पिता को रखना भी छोटी समस्या नहीं है। खासकर तीन-चार मंजिला भवन में, जिसमें लिफ्ट नहीं होती। बुजुर्ग माता-पिता को कोई कैसे रोज ऊपर से नीचे लाए? वे जब नौकरी पर घर से बाहर हों, तो कौन उन्हें खाना-पानी दे, दवा दे। यह एक नई तरह की समस्या है, खासकर छोटे परिवारों के लिए।

सुरक्षा का मुद्दा अलग है। लोग बड़ी-बड़ी कोठियों में अकेले रहने से डरने लगे हैं। लूटपाट के मामलों में बुजुर्ग ज्यादा निशाने पर रहते हैं। कई बार तो नौकर ही इन्हें निशाना बना देते हैं। ऐसे में ओल्ड एज होम ही अंतिम सहारा बचता है। मेरे एक मित्र अमेरिका गए, तो उन्हें माता-पिता को वहां ले जाने का वीजा नहीं मिला। मजबूरी में बुजुर्ग माता-पिता ओल्ड एज होम चले गए। वे गुजर भी गए, पर बेटा समय पर नहीं पहुंचा। अंतिम संस्कार भी ओल्ड एज होम वालों ने किया। पर क्या ओल्ड एज होम में रहने वाले बुजुर्ग मानसिक रूप से सामान्य रह पाते हैं? कुछ अपवाद छोड़ दें, तो ओल्ड एज होम भी निजी नर्सिंग होम की तरह ही काम कर रहे हैं। अगर किसी के पास पैसा है, तो उसकी सुविधा अलग होगी और जिसके पास कम पैसा है, उसे न्यूनतम सुविधा मिलेगी। हो सकता है कि चार-छह लोगों की ऐसी डोरमेट्री में रहना पड़े, जिसमें बहुत कम जगह हो। एसी की जगह सिर्फ पंखा हो। टीवी भी न हो समाचार सुनने के लिए।

फिर वे, जिनकी उम्र 70-75 से ज्यादा हो, खुद न चल पाते हों, उनकी समस्या ज्यादा होती है। उन्हें व्हील चेयर पर रोज आधा घंटा घुमाने वाला भी कोई चाहिए। फोन से बात कराने वाला भी कोई चाहिए। नर्स समय पर उनका डायपर बदले,

यह भी जरूरी है। शारीरिक दिक्कतों के साथ बड़ी समस्या मानसिक होती है। अकेलापन काटता है और ज्यादातर बुजुर्ग अवसाद के शिकार हो जाते हैं। ऐसे में, ओल्ड एज होम को लेकर नए सिरे से सोचने की जरूरत है। कई शहरों में तो पांच सितारा किस्म के ओल्ड एज होम भी बन गए हैं, लेकिन वे सबकी पहुंच से बाहर हैं।

फिर अस्पताल या नर्सिंग होम का माहौल कभी घर का विकल्प हो भी नहीं सकता। बेहतर होगा कि समाज इस तरह के अच्छे आवासीय आश्रमों के बारे में नए सिरे से विचार करे। बल्कि यह भी सोचे कि आश्रम की बजाय घर जैसा माहौल कैसे मिले। फिर साझा भ्रमण का आयोजन करके अस्पताल की नीरसता भी तोड़ी जाए। लोगों को कुछ आजादी मिले, मनोरंजन का भी कुछ इंतजाम हो। पढ़ने-लिखने, बाग-बगीचे में टहलने की व्यवस्था हो, संगीत हो, खान-पान के बेहतर विकल्प भी हों। तब शायद ऐसे ओल्ड एज होम में रहने वालों का जीवन कुछ बेहतर हो सकता है। जिस तरह से कई इंजीनियरंग कॉलेजों में मेस का इंतजाम स्वयं छात्र देखते हैं, वैसे ही इन वृद्ध आश्रमों का इंतजाम इनमें रहने वाले बुजुर्ग खुद देखें, तो बेहतर होगा। सरकार के स्तर पर भी ऐसे ओल्ड एज होम की निगरानी होनी चाहिए। अगर सरकार स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, जेल बनाती है, तो वह कुछ आदर्श ओल्ड एज होम भी बनाए। गैर सरकारी संस्थाएं भी यह जिम्मेदारी निभा सकती हैं, कुछ निभा भी रही हैं। जरूरत वृद्धाश्रमों को सामाजिक रूप से स्वीकार्य बनाने की भी है। ऐसा होने पर अकेले रहने वाले बुजुर्ग ओल्ड एज होम में जाने से नहीं हिचकेंगे। ओल्ड एज होम का मामला बुजुर्गों के लिए उनके जीवन की अंतिम वेला का इंतजाम नहीं है, बल्कि जिंदगी की सबसे उत्पादक उम्र पार कर चुके लोगों को एक सम्मानजनक जीवन देने की व्यवस्था है। वह भी उस समाज में, जहां वृद्धों के सम्मान की परंपरा रही है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date:19-02-20

In her own right

Supreme Court ruling on equality of women army officers is enormously welcome and long overdue.

Editorial

Monday's decision by the apex court to bring women army officers at par with their male counterparts comes like a whiff of fresh air. After comments by Justice DY Chandrachud in the open court last week against government counsel opposing the move, the judgment was expected. Even so, it exhilaratingly went the whole hog in an unequivocal endorsement of the equality of women. The judgment was long awaited, as the first PIL was filed in 2003, followed by other suits in 2006 and 2008, and the Delhi High Court gave a judgment in favour of women officers in 2010. The government went to the Supreme Court and made all attempts to delay the judgment. So much so that even though no stay had been granted by the Supreme Court, the government did not implement the High Court order. The Supreme Court noted this fact in its ruling.

The significance of the SC judgment is two-fold. One, it is a complete endorsement of the equality of women in 21st century India, and against deeply embedded patriarchal mindsets and strong institutional

biases. Two, even though the issue was not being directly considered by the bench, it chose to open command appointments to women officers in 10 streams where the Army has agreed they can serve as permanently commissioned officers. While the first will have a larger social impact as conservative mores and anti-women norms are being pushed across the country by forces of religious majoritarianism and in the name of "Indian" culture, the second will force real and substantive change in the Army. The Army will be compelled to change its rules not only for promotion to command appointments, it will also have to instill widespread changes in the pathways for the women officers to do training courses and hold appointments which have so far been the sole preserves of men.

The government had proposed a compromise which would have given limited benefits like pension to serving women officers with 14 years of service or more, and full parity from prospective effect for the younger officers. But the bench has brought in full parity for women. The Army has not yet responded to the judgement. But with the defence minister publicly welcoming the order, there is hope that even though his ministry opposed the case in the Supreme Court, there will be no further challenges to this progressive and far-reaching judgment. Since 1992, when women officers first entered the Army, they have played a significant role which has brought laurels for the organisation. As the court observed, "The time has come for a realisation that women officers in the Army are not adjuncts to a male-dominated establishment whose presence must be 'tolerated' within narrow confines". Circa 2020, that time has truly come.

Date:19-02-20

A just verdict

Supreme Court ruling in favour of women officers in Army is pathbreaking , extende arc of equality

Upendra Baxi , [The writer is professor of law, University of Warwick, and former vice chancellor of Universities of South Gujarat and Delhi.]

The Supreme Court of India has again showed what a constitutional culture of non-discrimination can achieve in demolishing obstinate structures of gender-based discrimination in state and civil society. The march of gender justice which began with the Mathura open letter in the late Seventies, and bemoaned patriarchal culture even in the apex court, has in recent years extended the arc of the right to equality by normative war against all forms of gender-based discrimination, including that against LGBTQI communities and trans-peoples. Now, Justice Dhananjaya Y Chandrachud and Justice Ajay Rastogi have ruled against the army and even gone so far as to characterise as "absurd" all justifications for inequality on the grounds of security, discipline and morale of the forces.

This was not always so. I still recall the early days when the Supreme Court in the early '70s threw out a petition for gender equality in the Judge Advocate General Office. And even though women's rights to equality were recognised by the Delhi High Court decision in March 2010, and reaffirmed in September 2015, so entrenched is gender inequality that the Supreme Court routinely took a decade to decide the matter in appeal. The appeal from the 2015 decision, which primarily pertained to discrimination in the Navy, still has to be heard.

But the obituary of discrimination was penned vividly in 2010. In 2015, Justices Kailash Gambhir and Najmi Waziri wrote that "sexism" has no place in law and society and quoted UN Secretary General Kofi Annan: "There is no tool more effective than the empowerment of women for development of a country." In a moving gesture they quoted progressive Urdu poet Asrarul Haq 'Majaz' (1911-1955) who exhorted women to fight for their equitable space in the world in the following words: "Tere mathe pe ye anchal toh bahut hi khuub hai lekin tu is anchal se ik parcham bana leti toh achchha tha (While the raiment covering your head is good, it would be better if you made a banner of it.)"

Justice Chandrachud (and Justice Rastogi) take many crucial constitutional steps further. First, and this plays a decisive role, the fact that the "engagement of women officers in the Army" has been an "evolutionary process" is little understood by state lawyers who "betray a lack of understanding of the plain consequences" of the Union decisions. These, over time, acknowledge that the "physiological features of a woman have no significance to her equal entitlements under the Constitution".

Second, in the absence of this recognition, "stereotypes about women in the Armed Forces" take over, and 70 years "after the birth of a post-colonial independent state", they indicate "a need for change in attitudes and mindsets to recognise the commitment to the values of the Constitution". Reliance on the "inherent physiological differences between men and women" rests on a deeply entrenched stereotypical and constitutionally flawed notion that women are the "weaker" sex and may not undertake tasks that are "too arduous" for them. Submissions so premised are held as deeply "disturbing" as these continue to ignore "the solemn constitutional values which every institution in the nation is bound to uphold and facilitate".

Third, this change has to be based on "the right of women officers to equality of opportunity", which has two "facets": Non-discrimination on the grounds of sex and equality of opportunity for all citizens in employment. State and civil society have to firmly internalise these rights to achieve even the minima of gender justice. Removal of the "fundamental fallacy" demands non-discrimination and affirmation of equality of opportunity in public employment. To rule otherwise will constitute "a travesty of justice".

This means women now have the same terms of employment as men. No longer will women be forced to retire after 14 years in service, irrespective of their record. They will also have full pension and other financial benefits. The court clarifies that the policy decision will apply to all women SSC officers "who are currently in service irrespective of the length of service which has been rendered by them".

Fourth, Article 14 of the Constitution has been pressed into service as prescribing "a right to rationality" that forbids any "blanket" and "absolute" prohibition. The burden to justify the differentiation between women and men falls "squarely on the Army", which has to "justify such differentiation with reason".

Fifth, Article 14 also stands transgressed when such blanket prohibition extends to command posts. However, an "individuated justification" may be offered to "future courts". This means that non-posting to a command post may also be questioned in courts by affected individuals.

Some may say, without resorting to sexual stereotypes, that this particular observation flies in the face of judicial enunciation about "the limitations which questions of policy impose on judicial intervention in matters relating to the Armed Forces". In fact, the brief remark outlining the judicial consciousness of policy limitations may well prove to be the proverbial Achilles' heel in future courts. Although the situations may be distinguished, the same Bench referred recently many a well-reasoned two-judge Bench decision to a larger Bench involving shifting lines of precedents concerning regularisation, with

back wages, of long-serving contract labour workmen. And a larger Bench is now re-adjudicating the validity of a slew of cases decided by earlier Benches (including the Sabarimala case, despite a strong dissent on the review by Justices Rohinton Nariman and Dhananjaya Chandrachud).

One hopes that the stoic and heroic endeavours of the petitioner army officers and their counsel, Meenakshi Lekhi and Aishwarya Bhati, will not be visited with the same constitutional fates, and this path-breaking judgment will forever vindicate gender equality and justice.

Making gender justice less contingent on the executive's mood swings is the primary task of the judiciary. Making it immune from judicial re-visitations remains the paramount constitutional duty of all citizens, but more particularly of feminist citizens' crusade for judicial consistency as a badge for constitutional rights and justice.

THE HINDU

Date:19-02-20

Birds hit

Bird diversity in India must be protected for cultural and ecological reasons

Editorial

Birds are under increasing pressure from human activity, struggling to survive as habitat loss, pesticides, hunting and trapping for the pet trade push them closer to the edge. Once-thriving endemic or migrant bird populations have been decimated over the past quarter century in India, as the scientific report, State of India's Birds 2020, points out. The analysis, produced by 10 globally influential organisations, is a major addition to ornithology. It is a rare synthesis of scientific understanding and citizen-led initiatives, using over 10 million observations made by over 15,500 bird watchers, achieving what would be difficult for small groups of researchers working alone. What emerges is an alarming picture of long-term declines of several species for which enough data is available over a 25-year period, as well as a more recent trend of annual losses. Data inadequacies have led to the exclusion of many species. Some bird species assessed as 'least concern' by the IUCN, were found in peril in India. Remarkably, in spite of having a rich ornithological tradition, only 261 species out of 867 spotted qualified for a full analysis, based on robust long-term data; 52% of them are now classified as being of 'high concern'. The heartening news is that sparrow numbers remain stable overall, although the bird has largely disappeared from some of the big cities. But the Western Ghats offer bleak prospects, and the abundance index of 12 endemic species there has dropped by 75% since 2000. The fortunes of the Nilgiri Pipit, Nilgiri Thrush and several Sholakilis are tied to the survival of the high shola forest-grasslands. Equally critical to some species, such as the Hodgson's bushchat wintering away from Mongolia, is the protection of terai grasslands in Uttar Pradesh, Bihar, and the northeastern States.

India's conservation community expects the Environment Ministry, which released the status report at the global conference of the Convention on the Conservation of Migratory Species of Wild Animals at Gandhinagar, Gujarat, to secure a future for birds. Resolute steps to protect forests and other habitats will

confer multiple benefits, protecting other myriad species too. The latest report is refreshing as it taps into citizen science for good data and should serve as a foundation for further collaborative work. It is essential to revive the Great Indian Bustard, now pushed to precariously low numbers. Coursers and floricans need help with their delicate habitat, as do neglected small birds such as the Green Munia that is widely trapped. Bird diversity makes India, Kerala in particular, a birdwatching destination. That variety must be protected not just for cultural reasons, but to improve the health of forests, wetlands, open country habitat and high mountains.

Date:19-02-20

It's time to empower mayors

Elections to urban local bodies should take place on non-party lines

T. Ramakrishnan

The spectacular victory of the Aam Aadmi Party in the Delhi Assembly election is seen as a reiteration of voters' confidence in the leadership of Chief Minister Arvind Kejriwal, even though several factors together contributed to the poll outcome. This development may again give rise to the demand for a 'strong mayor' helming urban local bodies (ULBs), as the role of the Delhi Chief Minister is treated on a par with the role of a mayor of a municipal corporation. With electoral politics in India becoming increasingly personality-centric, the idea of an empowered mayor may find many takers.

Indirect elections

In the last six months, Madhya Pradesh, Chhattisgarh, Rajasthan and Tamil Nadu decided to have indirect elections of ULB chiefs. In Chhattisgarh and Rajasthan,the Congress won in a majority of ULBs after effecting the change. In fact, according to one estimate, the system of direct election of mayors is in vogue only in two States — Uttarakhand and Jharkhand.

The larger issue at hand is the quality of urban governance. It is unrealistic to expect a high quality of governance as long as political parties have a complete grip over the way civic bodies function. It is time policymakers and political leaders began to seriously contemplate party-less elections to ULBs. This idea is not new. It has been debated at the All India Mayors conference. But due to the unwillingness of parties to examine the concept, the idea has not taken off.

Already, in a majority of the States, the election for the posts of presidents and councillors of gram panchayats is done on non-party lines. At least in respect of rural local bodies (RLBs), there is some justification for the presence of political parties as, otherwise, caste alone might determine votes. But in ULBs, the caste factor remains subdued, especially during elections. Besides, there is no sound rationale for holding polls for ULBs on party lines as these bodies neither legislate nor frame policies. Also, there is no scope for any political ideology to play a role in the affairs of ULBs. The main task of the bodies is to handle problems concerning sanitation, water supply and solid waste management. Even in the area of water supply and sewerage, the role of the municipal corporations of Chennai, Bengaluru and Hyderabad

has got reduced as there are entities exclusively for this purpose. Delhi too has a Jal Board, headed by the Chief Minister.

Protagonists of the party system may point out that there has been a tradition of political leaders heading ULBs. They may also argue that the participation of political personalities in elections to ULBs cannot be prevented. But the reality is that the calibre of the political leadership is in short supply and the issues concerning ULBs have undergone a sea change over time. According to the 2011 Census, there are about 8,000 towns in India. There are at least 50 cities or urban agglomerations with more than a million people, says the 15th Finance Commission. These cities face challenges of pollution, ground water depletion and sanitation. There are also inter-State disparities in the level of urbanisation and in the urban poverty ratio. ULBs don't have finances, a problem ignored by the elected representatives.

Parties have nothing to fear

There is also political justification for why elections to the ULBs should take place on non-party lines. Under the present scheme, Chief Ministers do not want strong ULB chiefs to emerge, especially if the person happens to be from his or her party. This explains why parties prefer indirect elections. On the contrary, if the polls are held on non-party lines with direct elections for chiefs of ULBs, a new crop of leaders will emerge outside the political class. Well-educated and well-qualified youngsters will be encouraged to take part in the election process. More importantly, municipal elections are bound to become cheaper as there will be no need for competitive spending by nominees of rival parties. Even if some successful mayors emerge in the process and want to take on established parties in the Assembly or Lok Sabha polls, this will be a herculean task for them, so parties have nothing to fear. In fact, parties stand to gain, as MLAs may not be villified for all the wrongdoings of local bodies.

Questions will be raised about the credentials of candidates for the post of mayor. State Election Commissions can prescribe qualifications for mayors, over and above the existing ones, to address them. The issue of cohesion between mayors and councils will also be raised. This remains a major problem but committed individuals, if elected, can easily thrash out this issue. ULBs can have meaningful empowerment only if the concept of non-party elections is adopted. This is a prerequisite for the implementation of the 'strong mayor' model.

Date:19-02-20

Powering the health-care engine with innovation

There is potential for private care providers, innovators and start-ups to be partners in the Ayushman Bharat scheme

Amitabh Kant and Indu Bhushan , [Amitabh Kant is CEO, NITI Aayog. Indu Bhushan is CEO, Ayushman Bharat-PM-JAY and National Health Authority.]

It has been close to 18 months since the Prime Minister, Narendra Modi, launched the country-wide implementation of Ayushman Bharat-Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (PM-JAY), or the national health protection scheme; the initial momentum has been very encouraging. The scheme is currently being implemented in 32 of 36 States and Union Territories. It has provided 84 lakh free treatments to poor and vulnerable patients for secondary and tertiary ailments at 22,000 empanelled hospitals, countrywide. Under PM-JAY, there is one free treatment every three seconds and two beneficiaries verified every second.

Expanding the supply side

As the scale of this scheme grows, a key area of focus is to expand the secondary and tertiary hospitals empanelled under PM-JAY and ensure their quality and capacity while keeping the costs down. At present, there is one government bed for every 1,844 patients and one doctor for every 11,082 patients. In the coming years, considering 3% hospitalisation of PM-JAY-covered beneficiaries, the scheme is likely to provide treatment to 1.5 crore patients annually. This means physical and human infrastructure capacity would need to be augmented vastly. Conservative estimates suggest the we would need more than 150,000 additional beds, especially in Tier-2 and -3 cities. While a comprehensive long-term strategy will focus on expanding hospital and human resources infrastructure, an effective near-term approach is needed to improve efficiencies and bridge gaps within the existing supply and likely demand. A strong, yet under-tapped lever for accelerating health system efficiency and bridging these gaps is mainstreaming innovation in the Indian health system.

Transformative solutions

India's burgeoning entrepreneurial spirit combined with a systematic push for the development of a start-up ecosystem has led to a plethora of innovations in health care. It is estimated that there are more than 4,000 health-care technology start-ups in India. Today, start-ups are working to bring innovative technologies and business models that leapfrog infrastructure, human resources, cost-effectiveness and efficiency challenges in Tier-2 and -3 cities. Artificial Intelligence platforms that aid in rapid radiology diagnoses in low resource settings, tele-ICU platforms to bridge the gap in high-skilled critical care personnel, centralised drone delivery of blood, medicines and vaccines to reach remote locations cost-effectively and reliably are all no longer just theoretical ideas. They are real solutions that are ready to be tested on the ground and potentially implemented. It is high time for transformative solutions to make their way into our hospitals, especially in Tier-2 and -3 cities, to turbocharge the way health care is delivered at scale.This mainstreaming of health-care innovations, is lined with challenges at every step. The friction in their path to market often stems from multiple reasons.

Addressing the constraints

One challenge is non-uniform regulatory and validation standards. Regulatory requirements, specifically for biomedical start-ups, are still evolving in India. As a result, hospitals often rely on foreign regulatory certifications such as FDA and CE, especially for riskier devices and instruments. In addition, it is difficult for a start-up to understand the minimum necessary validation requirements in order to qualify for procurement by hospitals. Lack of standards in this area leads to a huge variation in validation requirements at States and hospitals, forcing the start-up into a spiral of piloting studies. The government is now pushing ahead to overhaul Indian med-tech regulatory standards and product standards which will help bridge this trust-deficit.

Another problem in promoting start-ups is the operational liquidity crunch due to a long gestation period. Health-care start-ups spend long periods of time in the early development of their product, especially where potential clinical risks are concerned. The process of testing the idea and working prototype, receiving certifications, performing clinical and commercial validations, and raising funds, in a low-trust and unstructured environment makes the gestational period unusually long thereby limiting the operational liquidity of the start-up.Another hurdle is the lack of incentives and adequate frameworks to grade and adopt innovations. Health-care providers and clinicians, given limited bandwidth, often lack the incentives, operational capacity, and frameworks necessary to consider and adopt innovations. This leads to limited traction for start-ups promoting innovative solutions.Start-ups also face procurement challenges in both public and private procurement. They lack the financial capacity to deal with lengthy tenders and the roundabout process of price discovery. Private procurement is complicated by the presence of a fragmented customer base and limited systematic channels for distribution.

To accelerate this process of mainstreaming innovations within the hospital system in India, we need to focus on identifying promising market-ready health-care innovations that are ready to be tested and deployed at scale. There is a need to facilitate standardised operational validation studies that are required for market adoption, to help ease out the start-up procurement process such that these solutions can be adopted with confidence. This, in effect, will serve the entire ecosystem of health-care innovators by opening up health-care markets for all. A strong theme in mature health-care systems in other parts of the world is a vibrant and seamless interface between hospitals and health-care start-ups. Through Ayushman Bharat, India has the unique opportunity to develop a robust ecosystem where hospitals actively engage with health-care start-ups by providing access to testbeds, communicating their needs effectively and adopting promising innovations. Start-ups can be effective collaborators for the most pressing health-care delivery challenges faced by hospitals, as opposed to being mere suppliers of technology or services.

We believe that the launch and expansion of Ayushman Bharat-PM-JAY is a watershed moment for the Indian health-care service delivery ecosystem. The government has taken a big step by rolling out world's largest and most ambitious publicly funded health-care assurance programme. We are now calling out to private sector health-care providers, health innovators, industry and start-ups to become equal partners in this movement. The dream of an accessible, affordable and high-quality health-care system for all, will be achieved when we work in alignment to complement each other and jointly undertake the mission of creating an Ayushman Bharat.